Gyanvividha, Vol.-2; Issue-3 (July-Sept.) 2025 : PP-292-300

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)
3049-2327(Print)
IIFS Impact Factor-2.25
Vol.-2; Issue-3 (July-Sept.) 2025
Page No.- 292-300
©2025 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

चंदन कुमार
शोधार्थी,
राजनीतिक विज्ञान,
भूपेंद्र नारायण मंडल विश्वविद्यालय,
मधेपुरा (बिहार).

Corresponding Author :

चंदन कुमार
शोधार्थी,
राजनीतिक विज्ञान,
भूपेंद्र नारायण मंडल विश्वविद्यालय,
मधेपुरा (बिहार).

पंचशील का सिद्धांत और भारत-चीन संबंध : नेहरु की नीति का एक रणनीतिक विश्लेषण

सारांश : प्रस्तुत शोध पत्र पंचशील के पाँच सिद्धांतों के संदर्भं में प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरु की चीन नीति और 1962 के भारत-चीन युद्ध के बीच के संबंधों का विश्लेषण करता है। इसका मुख्य तर्क यह है कि पंचशील की विफलता स्वयं सिद्धांतों में निहित नहीं थी, बल्कि यह भारत के आदर्शवादी दृष्टिकोण और चीन के यथार्थवादी रणनीतिक उद्देश्यों के बीच एक गहरे टकराव का परिणाम थी। यह पत्र 1954 के तिब्बत समझौते के रणनीतिक निहितार्थों की जांच करता है और दर्शाता है कि कैसे भारत की नैतिक कूटनीति चीन के राष्ट्रीय हितों से प्रेरित गणनाओं का अनुमान लगाने में अपर्याप्त साबित हुई। अंततः, यह अध्ययन 1962 के संघर्ष को नेहरु की नीति की एक रणनीतिक विफलता के रुप में स्थापित करता है, जो भारतीय विदेश नीति के लिए आदर्शवाद और यथार्थवाद के संतुलन पर एक स्थायी सबक प्रस्तुत करता है।

मुख्य शब्द : पंचशील, जवाहरलाल नेहरु, भारत-चीन संबंध, 1962 का युद्ध, आदर्शवाद बनाम यथार्थवाद, नेहरुवादी विदेश नीति, तिब्बत समस्या।

प्रस्तावना : द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति ने जहाँ एक ओर यूरोपीय साम्राज्यवाद के अंत की शुरुआत की, वहीं दूसरी ओर दुनिया को संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ के नेतृत्व में दो विरोधी वैचारिक गुटों में विभाजित कर दिया। इसी शीत युद्ध की पृष्ठभूमि में भारत जैसे कई नव-स्वतंत्र राष्ट्रों का उदय हुआ, जो अपनी पहचान, स्वायत्तता और विदेश नीति का मार्ग तलाश रहे थे। भारत के प्रथम प्रधानमंत्री, पंडित जवाहरलाल नेहरु, इस नई विश्व व्यवस्था में एक अद्वितीय स्थान बनाने के पक्षधर थे। वे भारत को किसी भी सैन्य गुट से दूर रखते हुए, गुटनिरपे-

क्षता और शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धांतों पर आधारित एक स्वतंत्र विदेश नीति का नेतृत्वकर्ता बनाना चाहते थे (नंदा, 2003)। नेहरू का मानना था कि एशिया के दो सबसे बड़े और प्राचीन राष्ट्र, भारत और चीन, मिलकर एक ऐसी 'एशियाई चेतना' का निर्माण कर सकते हैं जो पश्चिमी प्रभुत्व को चुनौती देगी और विश्व शांति के लिए एक नया मॉडल प्रस्तुत करेगी।

इसी भव्य दृष्टिकोण की सबसे ठोस अभिव्यक्ति 29 अप्रैल, 1954 को भारत और चीन के बीच हुए "तिब्बत क्षेत्र और भारत के बीच व्यापार और यातायात समझौते" में देखने को मिली। इस समझौते की प्रस्तावना में पहली बार 'पंचशील' के पाँच सिद्धांतों को औपचारिक रूप से संहिताबद्ध किया गया था। ये सिद्धांत थे: (1) एक-दूसरे की प्रादेशिक अखंडता और संप्रभुता का सम्मान, (2) अनाक्रमण, (3) एक-दूसरे के आंतरिक मामलों में अहस्तक्षेप, (4) समानता और पारस्परिक लाभ, और (5) शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व। इन सिद्धांतों का स्वागत पूरे उत्साह के साथ किया गया और 'हिंदी-चीनी भाई-भाई' का नारा दोनों देशों के बीच दोस्ती की एक नई सुबह का प्रतीक बन गया।

लेकिन इतिहास की विडंबना यह है कि शांति के इस घोषणापत्र पर हस्ताक्षर होने के एक दशक के भीतर ही, 1962 में दोनों देशों के बीच एक विनाशकारी सीमा युद्ध छिड़ गया। इस युद्ध ने न केवल भारत को एक करारी सैन्य और मनोवैज्ञानिक हार दी, बल्कि नेहरू के आदर्शवादी विश्व-दृष्टिकोण की नींव को भी हिलाकर रख दिया। यह शोध पत्र इसी ऐतिहासिक विरोधाभास की पड़ताल करता है। यह इस मूल प्रश्न की जांच करता है: पंचशील के सिद्धांतों पर आधारित एक नीति, जिसे स्थायी मित्रता की गारंटी माना जा रहा था, अंततः इतनी बुरी तरह विफल क्यों हुई?

इस पत्र का मुख्य तर्क यह है कि पंचशील की विफलता का कारण सिद्धांतों की कमजोरी नहीं, बल्कि भारत और चीन द्वारा उनकी व्याख्या और क्रियान्वयन में मौजूद रणनीतिक विषमता थी। नेहरूवादी भारत के लिए, पंचशील एक नैतिक प्रतिबद्धता और एक नए अंतरराष्ट्रीय मानदंड का आधार था। इसके विपरीत, माओवादी चीन के लिए यह एक यथार्थवादी और सामरिक उपकरण था जिसका उद्देश्य अपने तात्कालिक लक्ष्यों, विशेष रूप से तिब्बत पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित करना और सीमा विवाद को भविष्य के लिए स्थगित करना था (गार्वर, 2001)। जहाँ भारत ने सिद्धांतों को रिश्ते का आधार माना, वहीं चीन ने राष्ट्रीय हित को सिद्धांतों से ऊपर रखा।

यह शोध पत्र इस विषय पर मौजूद विभिन्न अकादमिक बहसों का भी संज्ञान लेता है। एक तरफ नेविल मैक्सवेल (1970) जैसे विद्वान हैं, जो युद्ध के लिए पूरी तरह से नेहरू की 'फॉरवर्ड पॉलिसी' और उनके आदर्शवादी भ्रम को जिम्मेदार ठहराते हैं। वहीं दूसरी ओर, श्रीनाथ राघवन (2010) जैसे इतिहासकार एक अधिक सूक्ष्म दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए तर्क देते हैं कि नेहरू के निर्णय उस समय की जटिल भू-राजनीतिक वास्तविकताओं से भी प्रभावित थे। यह पत्र इन विभिन्न दृष्टिकोणों का विश्लेषण करते हुए, भारत-चीन संबंधों के इस महत्वपूर्ण मोड़ का एक संतुलित और रणनीतिक मूल्यांकन प्रस्तुत करेगा, जिसके सबक आज भी प्रासंगिक हैं।

पंचशील का ऐतिहासिक संदर्भ और उसके सिद्धांत

पंचशील के सिद्धांत किसी शून्य में उत्पन्न नहीं हुए थे; वे अपने समय और उस युग की भू-राजनीतिक वास्तविकताओं की उपज थे। इन सिद्धांतों के महत्व और बाद में इनकी विफलता को समझने के लिए, उस ऐतिहासिक संदर्भ को समझना आवश्यक है जिसमें इनका जन्म हुआ था। यह वह दौर था जब दुनिया शीत युद्ध की चपेट में थी, उपनिवेशवाद का सूरज अस्त हो रहा था, और एशिया में एक नई चेतना जागृत हो रही थी।

वैश्विक और एशियाई संदर्भ : 1950 का दशक एक

अभूतपूर्व उथल-पुथल का काल था। दुनिया स्पष्ट रूप से दो शक्ति गुटों में विभाजित थी: संयुक्त राज्य अमेरिका के नेतृत्व वाला पूंजीवादी गुट और सोवियत संघ के नेतृत्व वाला साम्यवादी गुट। भारत जैसे नव-स्वतंत्र देश पर अपनी विदेश नीति चुनने और किसी एक गुट में शामिल होने का भारी दबाव था। प्रधानमंत्री नेहरू इस गुटबंदी के प्रबल विरोधी थे। उन्होंने एक "तीसरे रास्ते" की वकालत की, जिसे गुटनिरपेक्ष आंदोलन के रूप में जाना गया, जिसका उद्देश्य इन शक्ति गुटों से समान दूरी बनाए रखते हुए अपनी रणनीतिक स्वायत्तता को बनाए रखना था (गोपाल, 1979)। नेहरू का मानना था कि विकासशील देशों को अपनी ऊर्जा शीत युद्ध की प्रतिद्वंद्विता में बर्बाद करने के बजाय गरीबी, अशिक्षा और आर्थिक विकास पर केंद्रित करनी चाहिए।

इसी विचार ने एफ्रो-एशियाई एकजुटता की भावना को जन्म दिया। 1955 में इंडोनेशिया के बांडुंग में हुआ सम्मेलन इस भावना का शिखर था, जहाँ 29 एशियाई और अफ्रीकी देशों ने एक साथ मिलकर साम्राज्यवाद, नस्लवाद और शीत युद्ध की राजनीति का विरोध किया। इसी बांडुंग सम्मेलन में पंचशील के सिद्धांतों को व्यापक रूप से अपनाया गया और इसे अंतरराष्ट्रीय संबंधों के लिए एक नैतिक संहिता के रूप में प्रतिष्ठित किया गया।

दूसरी ओर, चीन की अपनी विशिष्ट परिस्थितियाँ थीं। 1949 की कम्युनिस्ट क्रांति और कोरियाई युद्ध (1950-53) में अमेरिका के खिलाफ हस्तक्षेप के बाद चीन अंतरराष्ट्रीय स्तर पर, विशेषकर पश्चिमी देशों द्वारा, लगभग अलग-थलग पड़ गया था। माओत्से तुंग के नेतृत्व में चीन अपनी पहचान बनाने और साम्यवादी दुनिया में एक प्रमुख शक्ति के रूप में उभरने की कोशिश कर रहा था। ऐसे में, गुटनिरपेक्ष आंदोलन के प्रतिष्ठित नेता भारत के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित करना चीन के लिए एक बड़ी कूटनीतिक आवश्यकता थी। इससे चीन को अपनी अंतरराष्ट्रीय स्वीकार्यता बढ़ाने और यह दिखाने का अवसर मिला कि उसका साम्यवादी शासन विस्तारवादी नहीं, बल्कि शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व का समर्थक है (गार्वर, 2001)।

तिब्बत समझौता और सिद्धांतों का जन्म : पंचशील के सिद्धांतों को पहली बार औपचारिक रूप से 29 अप्रैल, 1954 को "चीन के तिब्बत क्षेत्र और भारत के बीच व्यापार और समागम पर समझौते" की प्रस्तावना में प्रस्तुत किया गया था। यह समझौता स्वयं में एक महत्वपूर्ण रणनीतिक घटना थी। ब्रिटिश भारत ने तिब्बत में कुछ विशेषाधिकार विरासत में पाए थे, जिसमें सैन्य टुकड़ियां रखने और राजनीतिक प्रतिनिधित्व का अधिकार शामिल था। इस समझौते के माध्यम से, भारत ने इन सभी अधिकारों को त्याग दिया और पहली बार स्पष्ट रूप से तिब्बत को "चीन का एक क्षेत्र" के रूप में स्वीकार कर लिया। भारत ने यह कदम सद्भावना के तहत उठाया, यह उम्मीद करते हुए कि इससे चीन के साथ सभी सीमा विवादों को मैत्रीपूर्ण ढंग से हल करने का मार्ग प्रशस्त होगा। कई रणनीतिकार इसे एकतरफा रियायत मानते हैं, क्योंकि भारत ने अपनी एक महत्वपूर्ण बफर स्टेट को बिना किसी ठोस सीमा समझौते के चीन के हवाले कर दिया (राघवन, 2010)। इसी समझौते की प्रस्तावना में वे पाँच सिद्धांत रखे गए, जो नेहरू की चीन नीति का आधार बने।

पंचशील के पाँच सिद्धांत :

ये पाँच सिद्धांत सरल लेकिन गहरे अर्थ वाले थे:

1. **एक दूसरे की प्रादेशिक अखंडता और संप्रभुता का पारस्परिक सम्मान:** यह सबसे महत्वपूर्ण सिद्धांत था, जिसका अर्थ था कि दोनों देश एक-दूसरे की सीमाओं को पवित्र मानेंगे। हालांकि, विडंबना यह थी कि दोनों देशों के बीच सीमा का कोई स्पष्ट और सर्वसम्मत सीमांकन था ही नहीं।
2. **पारस्परिक अनाक्रमण:** यह विवादों को सुलझाने के लिए बल प्रयोग न करने का एक औपचारिक वादा था।

3. **एक दूसरे के आंतरिक मामलों में पारस्परिक अहस्तक्षेप:** इस सिद्धांत का सीधा संबंध तिब्बत से था। इसके माध्यम से भारत ने चीन को यह आश्वासन दिया कि वह तिब्बत में होने वाली घटनाओं पर कोई हस्तक्षेप नहीं करेगा, जो चीन के लिए एक बड़ी कूटनीतिक जीत थी।
4. **समानता और पारस्परिक लाभ:** यह सिद्धांत आर्थिक और सांस्कृतिक संबंधों को बराबरी और आपसी फायदे के आधार पर विकसित करने पर केंद्रित था।
5. **शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व:** यह सभी सिद्धांतों का सार था। इसका अर्थ था कि अलग-अलग राजनीतिक विचारधाराओं (लोकतंत्र और साम्यवाद) और सामाजिक प्रणालियों वाले देश भी शांतिपूर्वक एक साथ रह सकते हैं और सहयोग कर सकते हैं। यह शीत युद्ध के इस तर्क का सीधा खंडन था कि दोनों गुटों के बीच संघर्ष अवश्यंभावी है।

संक्षेप में, पंचशील का जन्म आदर्शवाद और यथार्थवाद के एक जटिल मिश्रण से हुआ था। यह एक ओर विश्व शांति के लिए नेहरू के महान दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता था, तो दूसरी ओर तिब्बत जैसे जटिल मुद्दे को हल करने का एक व्यावहारिक प्रयास भी था।

नेहरू की चीन नीति: आदर्शवाद बनाम यथार्थ

फ्लोचार्ट की व्याख्या : प्रस्तुत फ्लोचार्ट भारत और चीन की विदेश नीति के वैचारिक अंतर को संक्षिप्त और तुलनात्मक रूप में स्पष्ट करता है।

- **भारत का दृष्टिकोण (आदर्शवाद):** नेहरू ने एशियाई एकता और नैतिक सिद्धांतों पर आधारित एक आदर्शवादी विदेश नीति अपनाई। इसका प्रत्यक्ष रूप पंचशील समझौते और तिब्बत प्रश्न पर चीन को दी गई रियायतों में दिखाई देता है। नेहरू की अपेक्षा थी कि इस नीति से स्थायी शांति और मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित होंगे, किंतु वास्तविकता में यह नीति 1962 के युद्ध के रूप में असफल सिद्ध हुई।
- **चीन का दृष्टिकोण (यथार्थवाद):** चीन ने विदेश नीति को राष्ट्रीय हित और शक्ति-सुदृढीकरण के साधन के रूप में देखा। पंचशील का उपयोग चीन ने सामरिक दृष्टि से किया—तिब्बत पर नियंत्रण स्थापित करने और सीमा क्षेत्रों में बढ़त हासिल करने के उद्देश्य से। इस यथार्थवादी दृष्टिकोण का वास्तविक परिणाम 1962 के युद्ध में चीन की रणनीतिक विजय के रूप में सामने आया।

इस प्रकार, यह फ्लोचार्ट दर्शाता है कि भारत की आदर्शवादी नीति और चीन के यथार्थवादी दृष्टिकोण के बीच असंतुलन ने दोनों देशों को सीधे टकराव की स्थिति में ला खड़ा किया।

पंडित जवाहरलाल नेहरू की चीन नीति उनके विश्व-दृष्टिकोण का केंद्रबिंदु थी, जो एक साथ आदर्शवाद की ऊँचाइयों और भू-राजनीति के कठोर यथार्थवाद का एक जटिल मिश्रण थी। यह नीति एक भव्य परिकल्पना पर आधारित थी कि दो महान एशियाई सभ्यताएँ औपनिवेशिक अतीत को पीछे छोड़कर शांति और सहयोग का एक नया अध्याय लिख सकती हैं। हालांकि, इस आदर्शवादी सपने का टकराव जब चीन के यथार्थवादी और राष्ट्रीय हितों से प्रेरित दृष्टिकोण से हुआ, तो परिणाम भारत के लिए विनाशकारी साबित हुए।

आदर्शवादी ढाँचा: एक नई दुनिया की परिकल्पना

नेहरू की विदेश नीति की नींव नैतिक सिद्धांतों और एक शांतिपूर्ण विश्व की गहरी आकांक्षा पर रखी गई थी। वे अंतरराष्ट्रीय संबंधों को शक्ति-संतुलन के यूरोपीय खेल के रूप में नहीं, बल्कि नैतिक सिद्धांतों पर आधारित एक सहकारी व्यवस्था के रूप में देखते थे (गोपाल, 1979)। उनकी चीन नीति इसी आदर्शवादी ढांचे से निकली थी:

- **एशियाई एकजुटता का सपना:** नेहरू का दृढ़ विश्वास था कि भारत और चीन, अपनी साझा औपनिवेशिक विरासत और विशाल जनसंख्या के कारण, स्वाभाविक सहयोगी थे। वे मानते थे कि इन दोनों देशों का एक साथ आना न केवल एशिया के भविष्य के लिए, बल्कि पूरी दुनिया के लिए एक सकारात्मक शक्ति होगा। 'हिंदी-चीनी भाई-भाई' का नारा केवल एक राजनीतिक नारा नहीं था, बल्कि यह इस गहरी भावनात्मक और वैचारिक आस्था का प्रतीक था।
- **नैतिक कूटनीति में विश्वास:** नेहरू का मानना था कि पंचशील जैसे नैतिक समझौते राष्ट्रों के व्यवहार को नियंत्रित कर सकते हैं। उन्हें विश्वास था कि चीन, एक साथी विकासशील राष्ट्र होने के नाते, इन सिद्धांतों की भावना का सम्मान करेगा। उन्होंने व्यक्तिगत कूटनीति और चीनी प्रधानमंत्री झोउ एनलाई के साथ अपने सौहार्दपूर्ण संबंधों पर बहुत अधिक भरोसा किया, यह मानते हुए कि नेताओं के बीच आपसी समझ भू-राजनीतिक विवादों को हल कर सकती है।

यथार्थवाद से टकराव : रणनीतिक भूलें

जहाँ नेहरू की नीति आदर्शों से प्रेरित थी, वहीं वह कई मौकों पर रणनीतिक यथार्थ की अनदेखी करती नज़र आई। यह टकराव विशेष रूप से दो क्षेत्रों में स्पष्ट हुआ: तिब्बत और सीमा विवाद।

- **तिब्बत का प्रश्न : एक रणनीतिक चूक** पंचशील समझौते का सबसे तात्कालिक और ठोस परिणाम तिब्बत पर भारत की स्थिति थी। 1954 के समझौते में, भारत ने तिब्बत में उन सभी विशेषाधिकारों को स्वेच्छा से त्याग दिया जो उसे ब्रिटिश राज से विरासत में मिले थे और तिब्बत को "चीन का एक क्षेत्र" के रूप में मान्यता दी। एक यथार्थवादी दृष्टिकोण से, यह एक बहुत बड़ी रणनीतिक चूक थी। भारत ने एक **बफर स्टेट** (मध्यवर्ती राज्य) के रूप में तिब्बत की पारंपरिक भूमिका को समाप्त कर दिया, जिसने सदियों तक भारत को सीधे चीनी शक्ति से बचाया था। इसके बदले में भारत को केवल सिद्धांतों का एक मौखिक आश्वासन मिला। जैसा कि कई विद्वान तर्क देते हैं, भारत ने एक ठोस रणनीतिक संपत्ति (तिब्बत में प्रभाव) को एक अमूर्त वादे (शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व) के लिए छोड़ दिया (राघवन, 2010)। चीन के लिए यह एक बहुत बड़ी जीत थी; उसने अपने सबसे महत्वपूर्ण लक्ष्यों में से एक—तिब्बत पर निर्विवाद नियंत्रण—को बिना किसी बड़ी कीमत के हासिल कर लिया।
- **सीमा विवाद**: अस्पष्टता का ख़तरा नेहरू की सरकार ने इस आदर्शवादी विश्वास के तहत काम किया कि एक मित्र चीन ऐतिहासिक रूप से स्थापित सीमाओं, जैसे कि मैकमोहन रेखा, का सम्मान करेगा। इसी भरोसे के कारण, 1954 में जब भारत के पास तिब्बत को लेकर मोलभाव करने की सबसे ज़्यादा शक्ति थी, तब उसने एक सुस्पष्ट और स्थायी सीमा समझौते के लिए चीन पर दबाव नहीं बनाया। यह एक गंभीर चूक थी क्योंकि चीन ने कभी भी मैकमोहन रेखा को औपचारिक रूप से स्वीकार नहीं किया था और इसे "ब्रिटिश साम्राज्यवाद का अवशेष" मानता था (मैक्सवेल, 1970)। चीन ने इस अस्पष्टता का पूरा फायदा उठाया। जब भारत पंचशील की भावना का जश्न मना रहा था, उसी समय चीन चुपचाप भारतीय दावे वाले अक्साई चिन क्षेत्र में एक रणनीतिक सड़क का निर्माण कर रहा था। 1957 में जब इस सड़क का खुलासा हुआ, तो यह नेहरू की चीन नीति पर पहले बड़े आघात की तरह था, जिसने आदर्शवाद और यथार्थ के बीच की गहरी

खाई को उजागर कर दिया।

- **चीन के इरादों को गलत समझना** नेहरू की नीति की सबसे बुनियादी विफलता चीन के रणनीतिक इरादों को समझने में थी। भारतीय नेतृत्व ने अपने स्वयं के शांतिवादी और उदारवादी मूल्यों को माओ के क्रांतिकारी चीन पर आरोपित किया। वे यह समझने में असफल रहे कि चीन का नेतृत्व एक कठोर राष्ट्रवादी विचारधारा से प्रेरित था, जिसके लिए राष्ट्रीय एकीकरण, क्षेत्रीय संप्रभुता (उनकी अपनी शर्तों पर), और कथित ऐतिहासिक अन्यायों को दूर करना सर्वोच्च प्राथमिकता थी। चीन के लिए, पंचशील एक स्थायी नैतिक प्रतिबद्धता नहीं, बल्कि एक अस्थायी सामरिक कदम था ताकि वह तिब्बत में अपनी स्थिति मजबूत कर सके और अपनी सैन्य तैयारी के लिए समय निकाल सके (गार्वर, 2001)।

संक्षेप में, नेहरू की चीन नीति एक महान प्रयोग थी जो दुर्भाग्य से विफल रही। यह एक आदर्शवादी नेता का यथार्थवादी दुनिया में नैतिक सिद्धांतों को लागू करने का एक ईमानदार प्रयास था। लेकिन इसने यह भी साबित कर दिया कि अंतरराष्ट्रीय राजनीति में सद्भावना और अच्छे इरादे तब तक अपर्याप्त हैं जब तक कि वे शक्ति के यथार्थ और एक स्पष्ट रणनीतिक दूरदर्शिता द्वारा समर्थित न हों।

पंचशील की विफलता और 1962 का सबक

टाइमलाइन की व्याख्या

प्रस्तुत टाइमलाइन 1949 से 1962 तक भारत-चीन संबंधों के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को संक्षेप में प्रस्तुत करती है।

- **1949** में चीन में साम्यवादी क्रांति की सफलता के साथ एशिया की सामरिक और वैचारिक संरचना में मूलभूत परिवर्तन आया।
- **1950** में भारत ने पीपुल्स रिपब्लिक ऑफ़ चाइना को मान्यता देकर अपनी आदर्शवादी विदेश नीति का परिचय दिया और एशियाई एकता की संभावना पर बल दिया।
- **1954** में संपन्न पंचशील समझौता भारत-चीन संबंधों का शिखर क्षण था, जिसने शांतिपूर्ण सहअस्तित्व और पारस्परिक सहयोग की आधारशिला रखी।
- तथापि, **1957** में अक्साई चिन क्षेत्र में चीन द्वारा सड़क निर्माण की सूचना से द्विपक्षीय संबंधों में अविश्वास की स्थिति उत्पन्न हुई।
- **1959** में दलाई लामा का भारत में शरण लेना चीन के प्रति भारत की नीति में एक निर्णायक मोड़ सिद्ध हुआ, जिसने राजनीतिक और सामरिक तनाव को और गहरा किया।
- **1960** में चीनी प्रधानमंत्री झोउ एनलाइ की भारत यात्रा और सीमा विवाद पर हुई वार्ता अपेक्षित परिणाम नहीं दे सकी, जिससे संबंधों में कड़वाहट और बढ़ गई।
- अंततः, **1962** का भारत-चीन युद्ध पंचशील के आदर्शों की विफलता और नेहरू की आदर्शवादी नीति की सीमाओं का प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध हुआ।

यह टाइमलाइन स्पष्ट करती है कि आदर्शवाद और यथार्थवाद के बीच असंतुलन ने भारत-चीन संबंधों को संघर्ष की ओर अग्रसर किया।

1950 के दशक के अंत तक, यह स्पष्ट हो गया था कि भारत का आदर्शवादी दृष्टिकोण और चीन का यथार्थवादी राष्ट्रवाद एक टकराव की राह पर थे।

पंचशील के सिद्धांतों की भव्य इमारत, जो आपसी विश्वास की नींव पर टिकी थी, धीरे-धीरे ढह रही थी। 1959 के तिब्बती विद्रोह से लेकर 1962 के युद्ध तक की घटनाएँ इस विफलता की दुखद परिणति थीं, जिसने भारतीय विदेश नीति पर स्थायी प्रभाव छोड़ा।

निर्णायक मोड़ : 1959 का तिब्बती विद्रोह

मार्च 1959 में, चीनी शासन के खिलाफ तिब्बत में एक बड़ा विद्रोह हुआ, जिसे चीनी सेना ने बेरहमी से कुचल दिया। इसके परिणामस्वरूप, तिब्बत के आध्यात्मिक और राजनीतिक नेता, दलाई लामा, अपने हजारों अनुयायियों के साथ भागकर भारत आ गए। भारत ने मानवीय आधार पर उन्हें शरण दी। यह घटना भारत-चीन संबंधों में एक निर्णायक मोड़ साबित हुई।

चीन के लिए, दलाई लामा को शरण देना पंचशील के "एक-दूसरे के आंतरिक मामलों में अहस्तक्षेप" के सिद्धांत का खुला उल्लंघन था। बीजिंग ने इसे भारतीय विस्तारवाद के सबूत के रूप में देखा और भारत पर तिब्बत में अलगाववादियों को उकसाने का आरोप लगाया (गार्वर, 2001)। वहीं, भारत के लिए दलाई लामा को शरण देना अपनी सांस्कृतिक और नैतिक परंपराओं के अनुरूप एक मानवीय कर्तव्य था। इस एक घटना ने दोनों देशों के बीच रहे-सहे विश्वास को भी समाप्त कर दिया और सीमा विवाद को और अधिक उग्र बना दिया।

'फॉरवर्ड पॉलिसी' और बढ़ता तनाव

तिब्बती विद्रोह के बाद सीमा पर झड़पें बढ़ गईं। चीन ने खुले तौर पर मैकमोहन रेखा को अवैध घोषित कर दिया और बड़े भारतीय क्षेत्रों पर अपने दावे को आक्रामक रूप से पेश करना शुरू कर दिया। इसके जवाब में, भारतीय सरकार ने 1960-61 में 'फॉरवर्ड पॉलिसी' (Forward Policy) अपनाई। इस नीति के तहत, भारतीय सेना को विवादित क्षेत्रों में, अक्सर चीनी चौकियों के पीछे, छोटी-छोटी सैन्य चौकियाँ स्थापित करने का आदेश दिया गया। इसका उद्देश्य चीन को और आगे बढ़ने से रोकना और भारतीय दावे को मजबूती से जताना था।

हालांकि, यह नीति रणनीतिक रूप से विनाशकारी साबित हुई। ये चौकियाँ भौगोलिक रूप से अलग-थलग थीं, उन तक रसद पहुँचाना मुश्किल था, और वे सैन्य रूप से लगभग असुरक्षित थीं। नेविल मैक्सवेल (1970) जैसे आलोचक तर्क देते हैं कि इस नीति ने चीन को सीधे तौर पर उकसाया और उसे सैन्य कार्रवाई करने का बहाना दे दिया। वहीं, श्रीनाथ राघवन (2010) बताते हैं कि नेहरू पर अपनी संसद और जनता की ओर से चीन के खिलाफ "कड़ी कार्रवाई" करने का भारी दबाव था, जिसके कारण यह जोखिम भरी नीति अपनाई गई। कारण जो भी हो, 'फॉरवर्ड पॉलिसी' ने एक अस्थिर स्थिति को एक विस्फोटक स्थिति में बदल दिया।

1962 का युद्ध: आदर्शवाद का अंत

20 अक्टूबर, 1962 को, चीन ने लद्दाख के अक्साई चिन क्षेत्र और पूर्व में नॉर्थ-ईस्ट फ्रंटियर एजेंसी (NEFA) में एक साथ बड़े पैमाने पर सुनियोजित आक्रमण कर दिया। भारतीय सेना इस हमले के लिए बिल्कुल भी तैयार नहीं थी। सैनिकों के पास बर्फीले पहाड़ों में लड़ने के लिए उचित कपड़े और हथियार नहीं थे, और रणनीतिक नेतृत्व पूरी तरह से विफल रहा। वर्षों से पंचशील के आदर्शवाद में डूबी भारतीय राजनीतिक व्यवस्था ने यह मानने से इनकार कर दिया था कि चीन के साथ कभी युद्ध हो भी सकता है, जिसके कारण सैन्य आधुनिकीकरण और तैयारी की गंभीर अनदेखी की गई।

परिणाम एकतरफा और अपमानजनक हार थी। चीनी सेना तेजी से भारतीय क्षेत्रों में घुस आई। एक महीने बाद, चीन ने एकतरफा युद्धविराम की घोषणा कर दी, लेकिन तब तक उसने भारत के सैन्य गौरव और नेहरू के राजनीतिक कद को गहरा आघात पहुँचा दिया था। यह युद्ध केवल एक क्षेत्रीय हार नहीं थी; यह 'हिंदी-चीनी भाई-भाई' के सपने का अंत था, यह पंचशील पर आधारित विदेश नीति का पूर्ण पतन था।

1962 के सबक : 1962 की हार एक राष्ट्रीय त्रासदी थी, लेकिन इसने भारत को अंतरराष्ट्रीय संबंधों की कठोर वास्तविकताओं के बारे में कुछ अमूल्य सबक भी सिखाए :

1. **आदर्शवाद को यथार्थवाद का सहारा चाहिए:** राष्ट्रीय सुरक्षा केवल अच्छे इरादों और नैतिक सिद्धांतों पर नहीं चल सकती। एक प्रभावी कूटनीति के पीछे हमेशा एक विश्वसनीय सैन्य शक्ति का होना अनिवार्य है।
2. **अपने प्रतिद्वंद्वी को जानें:** विदेश नीति का निर्माण इच्छाओं पर नहीं, बल्कि प्रतिद्वंद्वी देश की विचारधारा, इतिहास और राष्ट्रीय हितों के यथार्थवादी मूल्यांकन पर आधारित होना चाहिए। भारत चीन के रणनीतिक इरादों को समझने में विफल रहा।
3. **राष्ट्रीय हित सर्वोपरि है:** अंतरराष्ट्रीय संबंध अंततः राष्ट्रीय हितों से संचालित होते हैं। चीन ने अपने कथित राष्ट्रीय हितों (सीमा सुरक्षा, तिब्बत पर नियंत्रण) को पंचशील के सिद्धांतों से हमेशा ऊपर रखा।
4. **कमजोरी आक्रमण को निमंत्रण देती है:** भारत की सैन्य कमजोरी ने चीन को अपनी शर्तों को बलपूर्वक लागू करने का अवसर प्रदान किया।

अंततः, 1962 के युद्ध ने भारतीय विदेश नीति के रोमांटिक और आदर्शवादी युग का अंत कर दिया। इसने भारत को अपनी सुरक्षा और रणनीतिक सोच के बारे में अधिक यथार्थवादी, सतर्क और आत्मनिर्भर बनने के लिए मजबूर किया।

निष्कर्ष : पंचशील के सिद्धांत पर आधारित नेहरु की चीन नीति, स्वतंत्र भारत के इतिहास के सबसे आदर्शवादी और साथ ही सबसे दुखद अध्यायों में से एक है। यह एक महान दृष्टिकोण का प्रतीक थी, जिसमें दो प्राचीन सभ्यताएँ औपनिवेशिक छाया से बाहर निकलकर शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व का एक नया एशियाई युग बनाने की क्षमता रखती थीं। हालाँकि, जैसा कि इस शोध पत्र ने विश्लेषण किया है, इस नीति की विफलता स्वयं पंचशील के पाँच सिद्धांतों में नहीं थी—जो आज भी अंतरराष्ट्रीय संबंधों के लिए एक महान आदर्श बने हुए हैं—बल्कि यह भारत के आदर्शवादी विश्व-दृष्टिकोण और चीन के कठोर यथार्थवादी राष्ट्रवाद के बीच एक मूलभूत टकराव का परिणाम थी।

इस पत्र ने दर्शाया है कि नेहरु ने 'हिंदी-चीनी भाई-भाई' के नारे को एक नैतिक और स्थायी प्रतिबद्धता के रुप में देखा, जबकि चीन के नेतृत्व ने इसे अपने राष्ट्रीय हितों को साधने के लिए एक अस्थायी और सामरिक उपकरण माना। 1954 के तिब्बत समझौते में, भारत ने एक महत्वपूर्ण रणनीतिक बफर को बिना किसी ठोस सीमा समझौते के चीन को सौंप दिया, यह उम्मीद करते हुए कि सद्भावना का यह कार्य स्थायी मित्रता सुनिश्चित करेगा। यह एक ऐसी गणना थी जिसमें नैतिक आशावाद ने भू-राजनीतिक यथार्थ पर वरीयता ले ली थी। इसके बाद की घटनाओं—अक्साई चिन में सड़क का निर्माण, सीमा पर बढ़ती आक्रामकता, और अंत में 1962 का युद्ध—ने इस रणनीतिक भूल के विनाशकारी परिणामों को उजागर किया।

1962 की हार सिर्फ एक सैन्य पराजय नहीं थी; यह एक वैचारिक "मासूमियत के अंत" का प्रतीक थी। इसने भारतीय नेतृत्व को यह कठोर सबक सिखाया कि अंतरराष्ट्रीय राजनीति में, नैतिक सिद्धांतों और अच्छे इरादों को तब तक कोई नहीं सुनता, जब तक कि उनके पीछे राष्ट्रीय शक्ति और सैन्य तैयारी का ठोस आधार न हो। यह नेहरु के इस विश्वास का खंडन था कि साझा हित और नैतिक अनुनय एक शक्तिशाली राष्ट्र को अपने कथित हितों को बलपूर्वक लागू करने से रोक सकते हैं।

अंततः, पंचशील और 1962 के युद्ध का अनुभव भारतीय विदेश नीति के लिए एक महत्वपूर्ण मोड़ था। इसने भारत को अपनी रोमांटिक और आदर्शवादी जड़ों से दूर, एक अधिक व्यावहारिक, सतर्क और यथार्थवादी दृष्टिकोण की ओर धकेला।

पंचशील के सिद्धांत आज भी भारत की विदेश नीति के घोषणापत्र का हिस्सा हैं, लेकिन अब उन्हें एक भोली-भाली उम्मीद के रूप में नहीं, बल्कि एक ऐसे लक्ष्य के रूप में देखा जाता है जिसे कूटनीतिक चतुराई, आर्थिक शक्ति और सैन्य प्रतिरोध की स्थिति से ही प्राप्त किया जा सकता है। नेहरू की चीन नीति की त्रासदी हमें यह सिखाती है कि शांति बेशक सबसे महान लक्ष्य है, लेकिन भू-राजनीति के कठोर क्षेत्र में, एक राष्ट्र को सर्वश्रेष्ठ की आशा करनी चाहिए, पर सबसे बुरे के लिए हमेशा तैयार रहना चाहिए।

संदर्भ ग्रंथ :

1. Dalvi, John P. (1969). Himalayan Blunder: The Curtain-Raiser to the Sino-Indian War of 1962. Mumbai: Thacker & Co.
2. Fravel, M. Taylor. (2008). Strong Borders, Secure Nation: Cooperation and Conflict in China's Territorial Disputes. Princeton: Princeton University Press.
3. Garver, J. W. (2001). Protracted contest: Sino-Indian rivalry in the twentieth century (pp. 110–145). Seattle: University of Washington Press.
4. Gopal, S. (1979). Jawaharlal Nehru: A biography, Volume 2 (1947–1956) (pp. 210–225). New Delhi: Oxford University Press.
5. Hoffmann, Steven A. (1990). India and the China Crisis. Berkeley: University of California Press.
6. Kissinger, Henry. (2011). On China. New York: Penguin Press.
7. Maxwell, N. (1970). India's China war (pp. 320–356). London: Jonathan Cape.
8. Menon, Shivshankar. (2016). Choices: Inside the Making of India's Foreign Policy. Washington, D.C.: Brookings Institution Press.
9. Nanda, B. R. (2003). The making of a nation: India's road to independence (pp. 198–205). New Delhi: HarperCollins India.
10. Noorani, A. G. (2010). India–China Boundary Problem, 1846–1947: History and Diplomacy. New Delhi: Oxford University Press.
11. Raghavan, S. (2010). War and peace in modern India: A strategic history of the Nehru years (pp. 250–270). Basingstoke: Palgrave Macmillan.
12. Verma, Shiv Kunal. (2016). 1962: The War That Wasn't. New Delhi: Aleph Book Company.
13. Woodman, Dorothy. (1969). Himalayan Frontiers: A Political Review of British, Chinese, Indian, and Russian Rivalries. London: Barrie & Rockliff.

•